

बौद्धधर्म में अहिंसा और धर्म का पर्याय

डॉ० नीलम यादव

प्रवक्ता

पं० जवाहरलाल नेहरू इण्टर कालेज

बाँसगाँव गोरखपुर।

अहिंसा श्रमण—संस्कृति की आधारशिला है। उसका प्रत्येक सिद्धान्त अहिंसात्मक भावना से अनुप्राणित है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, और माध्यस्थ भावों का अनुवर्तन, समता और अपरिग्रह का अनुचिन्तन, नय और अनेकान्त का अनुग्रहण तथा संयम और सच्चरित्र का अनुसाधन अहिंसा के प्रधान स्तम्भ हैं। श्रमण—संस्कृति का समूचा साहित्य अहिंसा की साधना से आपूर है। उसकी पुनीत पृष्ठभूमि अहिंसा से अनुरंजित है।

अहिंसा और धर्म— अहिंसा और धर्म ये दोनों शब्द पर्यायार्थक कहे जा सकते हैं। वे परस्पर सम्मिलित और अवलम्बित हैं। धर्म का स्वरूप विविध आचार्यों ने विविध प्रकार से किया है। शायद इसीलिये किसी विवेचक ने उसकी भिन्नता को स्वीकारते हुए उसे रहस्यमय बताया और महापुरुष द्वारा अपनाये गये मार्ग को ही धर्म माना।

श्रुतिविभिन्नाः स्मृतिविभिन्नाः नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

धर्म तत्त्व विवादग्रस्त भले ही बना रहे पर उसकी सभी व्याख्याएँ अहिंसा एवं सर्वधर्मसमभाव के आसपास मड़राती हैं। ऋग्वेद में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रायनिग्रहके सामासिक रूप को धर्म कहा है।¹

धर्म रतः सत्पुरुषैः समेतास्तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः।

अहिंसा वीतमलाश्रव लोके भवन्ति पूज्याः मुनयः प्रधानाः॥²

धर्म और सत्य की एकाकारता भी आचार्यों ने प्रदर्शित की है। “यो वै स धर्मः, सत्यं वै तत्” (मनुस्मृति 1-4-14) “सत्याद्धर्मो दमश्चैव सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्” (महाभारत, शान्तिपर्व) आदि जैसे कथन इस एकाकारता के ही पोषक हैं। भगवान् महावीर और बुद्ध ने धर्म को और अधिक सार्वभौमिक बनाया।

1. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

एतत् सामासिको धर्म चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मुनिः।

यन्नूनमस्या गतिं मित्रस्य यामां पथा

अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे॥ ऋग्वेद 5-34-3.

2. वाल्मीकि रामायण 36-109.

महावीर ने धर्म को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र, इन तीनों तत्त्वों का समान्वित रूप माना है¹ और इसी को संसार को पवित्र करने वाला बताया है।² दान, सत्य, तप, शौच, कारुण्य आदि मानवीय गुण व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध सृष्टि करने में सहायक सिद्ध होते हैं।³ अशोक का सातवाँ स्तम्भ—लेख भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है, जहाँ उसने दया, दान, सत्य, शौच, मार्दव, साधन आदि गुणों की प्राप्ति के साधन निर्दिष्ट किये हैं। ये साधन सुख्यतः

धर्मनियम और धर्ममनन (धम्मनिज्झति) है। 'अभिहिंसाभूतानां, अनारम्भप्राणानां' का उद्घोष यहाँ किया जाता है। आचार्य उमास्वामी ने भी "उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपत्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः"⁴ लिखकर इसी उदार कथन का समर्थन किया है।

भगवान बुद्ध ने "धम्मचक्कपवत्तन" कर विश्व नियम (Universal Truth) को स्पष्ट किया है। भिक्षुओं को 'धम्मदायाद' का आदेश दिया है और इसके निमित्त सम्पत्ति, अंग, जीवन आदि सब कुछ छोड़ देने का निर्देश दिया है।

धनं चजे अंगवस्य हेतु अंगं चजे जीवितं रक्खमणि।

अंगं धनं जीवितचापि सब्बं चजे नरो धम्ममनुस्सरन्तो।⁵

धर्म के इस प्रकार के सम्बन्ध से ही सभी सम्पर्क उत्तरदायित्वपूर्ण तथा स्नेहमय बने रहते हैं। अन्यथा पिता पुत्र का और पुत्र पिता का वधक हो जाता है। सभी सामाजिक नियमों को सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिए धर्म (अन्तःकरणप्रसूत मानवता) का आश्रय नितान्त आवश्यक है। सामाजिकता की स्वीकृति का भी यह आश्रयस्थल है।

धर्म की उक्त व्याख्या के साथ ही उसका एक सार्वजनिक रूप भी उपलब्ध होता है, जिसमें वस्तु (पदार्थ) के स्वभाव पर गम्भीरता से विचार एवं चिंतन किया गया है। धर्म का यह सार्वजनिक रूप है।

1. सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वररा विदुः—रत्नकरण्डण समन्तभद्र

2. पवित्री क्रियते येनैवोद्धियते जगत्।

नमस्तस्मै दयाद्राय धर्मकल्पाड्, धियाय वै॥ वही.

3. नित्यं दानं तथा दाक्ष्यमार्जवं चैव नित्यदा।

उत्साहोऽथानहंकारः परमं सौहृदं क्षमा॥

सत्यं दान तपः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा।

मित्रेषु चानभिद्रोहः सर्वतेष्वभवत् प्रभौ॥ महा० शान्तिपर्व

4. तत्त्वार्थसूत्र, 9-6

5. जातकट्टकथा, विसुद्धिमग्ग, सीलनिद्देस में उद्धृत है।

धम्मो वत्थुसहाओ खमादि भावो दसविहो धम्मो।

रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खयं धम्मो॥¹

इस परिभाषा में धर्म की चार विशेषताएं प्रस्तुत की गई हैं—1. वस्तु स्वभाव धर्म है, 2. क्षमादिक दस गुण धर्म है, 3. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्याग्चरित्र रूप रत्नत्रय का पालन धर्म है, और 4. जीवों का संरक्षण धर्म है। वस्तु का स्वभाव अपरिवर्तनीय रहता है। जल की शीतत्व व अग्नि का उष्णत्व कभी बदला नहीं जा सकता। जितने समय के लिए उसमें विकार भाव आता है, वह किसी बाह्य वस्तु के संसर्ग का परिणाम है। इसी प्रकार मनुष्य का स्वभाव मनुष्यता है। अहिंसक होना है। उसमें हिंसा के भाव जाग्रत होना राग, मोह, द्वेष, लोभ आदि परिणामों का विकार है जो आत्मा का मूल रूप नहीं है। आत्मा का मूल रूप तो है समभाव होना व स्वरूप में रमण करना (चारित्तं)। यही मोह—क्षोम से विरहित आत्मा का परिणाम है।

चारित्तं खलु धम्मो जो से समोत्ति णिद्धिट्ठो।

मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हू समा ।।
चरणं हइव सधम्मो धम्मो सी हयइ अप्पसमभावो ।
सो रागदोसरहिओ जीवस्य अणण्ण परिणामो ।।²

मोक्खपाहुड, गा, 50

बुद्ध ने भी 'सब्बे धम्मा अनिच्चा' कहकर धर्म का अर्थ पदार्थ लिया है। "ये धम्मो हेतुप्पभवो" में धर्म का अर्थ स्वभाव, अवस्था, गुण, कर्तव्य, विचार आदि किया गया है। बौद्धधर्म में धर्म त्रिरत्नों में परिगणित किया है। बाद में बुद्ध और उनके धर्म में तादात्म्य स्थापित किया गया—"यो धम्मं पस्सति सो मम पस्सति, या मम पस्सति सो धम्मं पस्सति।" महायान सम्प्रदाय में धर्मकाय की स्थापना कर बुद्ध और धर्म को और भी अधिक एकाकार कर दिया गया। आचार्य बुद्धघोष ने धर्म के चार अर्थ किये हैं— 1. परिणत्ति या सिद्धान्त, 2. हेतु 3. गुण और 4. निस्सत्त-निज्जीवता (विसुद्धिमग्ग)।

इस प्रकार धर्म वस्तुतः आत्मा का एक स्पन्दन है जिसमें कारुण्य, सहानुभूति, सहिष्णुता, परोपकार वृत्ति आदि जैसे गुण विद्यमान रहते हैं। वह किसी जाति या सम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं। उसका स्वरूप तो सार्वजनिक, सार्वभौमिक और लोकमाङ्गलिक है। व्यक्ति व राष्ट्र का अभ्युत्थान ऐसे ही धर्म की परिसीमा में सम्भव है।

1. कत्तिगेयाणुवेक्खा, गाथा 473.
2. प्रवचनसार 1-7. तुलनार्थ देखिये।

अहिंसा का स्वरूप— धर्म और अहिंसा में शब्दभेद है, गुणभेद नहीं। धर्म अहिंसा है और अहिंसा धर्म है। क्षेत्र उसका व्यापक है। अहिंसा एक निषेधार्थक शब्द है। यह अधिक संभव है कि वह विधिपरक हिंसा के अनन्तर प्रयुक्त पूर्वतर रहा होगा। क्योंकि विधेयावस्था के बाद ही निषेधावस्था का उदय होता है।

हिंसा का मूल कारण है प्रमाद अथवा कषाय। इसी के वशीभूत होकर जीव के मन, वचन, काय में क्रोधादि एवं रागादि भाव प्रकट होते हैं, जिनसे स्वयं के फलस्वरूप रूप प्रभावों का हनन होता है। कषायादिक की तीव्रता के फलस्वरूप उसके आत्मघात रूप द्रव्य प्राणों का भी हनन संभव है। इसके अतिरिक्त दूसरे को मर्मान्तक वेदनादान अथवा परद्रव्यपरोपण भी इन्हीं भावों का कारण है।¹ इस प्रकार हिंसा के चार भेद हो जाते हैं। स्वभावहिंसा, स्वद्रव्यहिंसा, परभावहिंसा और परद्रव्यहिंसा। आचार्य उमास्वामी इसी को संक्षेप में 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यरोपणं हिंसा' कहते हैं² इसलिए भिक्षुओं को कैसे चलना फिरना चाहिए, कैसे बोलना चाहिए, इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि उसे बलपूर्वक—अप्रमत्त होकर उठना बैठना चाहिए, यत्नपूर्वक भोजन—भाषण करना चाहिए।

कहं चरे ? कहं चिट्ठे ? कहमासे कहे सए ?
कथं मुञ्जन्तो भासन्तो ? पावं कम्मं न बंधई ?
जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए ।
जयं मुञ्जन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बंधई ।।³

गीता में इस कथन की भाषा है।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव ।

1. यत्खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, 43
2. तत्त्वार्थ सूत्र, 7.3, तुलनार्थ देखिये ।
हिंसायामविरमणं हिंसा परिणमनमपि भवति हिंसा ।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥ पुरुषार्थसिद्ध, 48
3. दशवैकालिक 4.7-8

इतिवृत्तक में इस प्रश्न का उत्तर दशवैकालिक से मिलता-जुलता दिखाई देता है—

यसं चरे यतं तिट्ठे यतं अच्छे यतं सये ।

यतं सम्मिज्जये भिक्खु यतमेनं पसादए ॥

हिंसा का प्रमुख कारण रागादिक भाव है।¹ उनके दूर हो जाने पर स्वभावतः अहिंसा भाव जाग्रत हो जाता है। दूसरे शब्दों में समस्त प्राणियों के प्रति संयम भाव ही अहिंसा है— “अहिंसा निउणं दिट्ठा सब्भूयेसु संजमो।”² जगत् का हर प्राणि अधिकाधिक सुख प्राप्ति के साधन जुटाता है। उसे मरने की आकांक्षा नहीं होती।³ उसके ये सुख प्राप्ति के साधन अहिंसा व संयम की पृष्ठभूमि में जुटाये जाने चाहिये। व्यक्ति, समाज व राष्ट्र के अभ्युत्थान के लिए यह आवश्यक है कि वे परस्पर एकात्मक कल्याण मार्ग से आबद्ध रहें। उसमें सौहार्द, आत्मोत्थान, स्थायी शान्ति, सुख और समृद्धि के पवित्र साधनों का उपयोग होता रहे। यही यथार्थ में उत्कृष्ट मंगल है।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।

देवावितं नमंसंति जस्स धम्म सया मणो ॥⁴

अहिंसा के एक देश का पालन गृहस्थ वर्ग करता है और सर्व देश का पालन मुनि वर्ग करता है। उसी को जैन शास्त्रीय परिभाषा में कमशः अणुव्रत और महाव्रत कहा गया है। सकलचारित्र और विकलचारित्र इसी के पर्यायार्थिक शब्द हैं। गृहस्त वर्ग संकल्पी, आरम्भी, उद्योग और विरोधी रूप स्थूल हिंसा का त्यागी रहता जबकि मुनिवर्ग सूक्ष्म और स्थूल, दोनों प्रकार की हिंसा से दूर रहता है।

मन, वचन और काय से संयमी व्यक्ति स्व-पर का रक्षक तथा मानवीय गुणों का आगार होता है। शील-संयमादि गुणों से आपूर व्यक्ति हो सत्पुरुष है। जिसका चित्त मलीन व पापों से दूषित रहता है वह अहिंसा का पुजारी कभी नहीं हो सकता। जिस प्रकार घिसना, छेदना, तपाना और ताड़ना इन चार उपायों से सुर्वण की परीक्षा की जाती है उसी प्रकार श्रुत, शील, तप और दयारूप गुणों के द्वारा धर्म एवं व्यक्ति की परीक्षा की जाती है।

1. अप्रादुभविः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिः हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥ पुरुषार्थ; 44

2. दशवैकालिक, 6.8
3. वही, 6.10, संयुत्तनिकाय, 1.3.8
4. वही, 1.1, देखिए, धम्मपद, 19.6

संजसु सीलु सउच्चु तवु जसु सूरि हि गुरु सोई ।

दाह छेदक सधायकमु उत्तमु कंचणु होई ।¹

जीवन का सर्वाङ्गण विकास करना संयम का परम उद्देश्य रहता है। सूत्रकृतांग में इस उद्देश्य को एक रूपक के माध्यम से समझाने का प्रयत्न किया गया है। वहाँ बताया गया है कि जिस प्रकार कछुआ निर्भय स्थान पर निर्भीक होकर चलता-फिरता है किन्तु भय की आशंका होने पर शीघ्र ही अपने अंग-प्रत्यंग प्रच्छन्न कर लेता है और भय विसुक्त हो जाने पर पुनः अंग-प्रत्यंग फैलाकर चलना-फिरना प्रारम्भ कर देता है उसी प्रकार संयमी व्यक्ति अपने साधनामार्ग पर बड़ी सतर्कतापूर्वक चलता है। संयम की विराधना का भय उपस्थित हो जाने पर पंचेन्द्रियों व मन को आत्मज्ञान-अंतर में ही गोपन कर लेता है।²

बुद्ध ने सुत्तनिपात में प्रणिमात्र के प्रति करने का उपदेश दिया है। उन्होंने ने कहा है कि शान्तपद (निर्वाण) के इच्छुक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह योग्य तथा अत्यन्त सरल बने। उसकी बात मृदु, सुन्दर और विनम्रता से भरपूर हो। वह सन्तोषी व इन्द्रियसंयमी हो। उसकी यह सप्रयत्न भावना रह कि सभी प्राणी सुखी हों, सभी का कल्याण हो और सभी सुखपूर्वकर रहें (सुखिनो वा खेमिना होन्तु सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता।³ संयुत्तनिकाय में कहा कि जो शरीर, मन और वचन से हिंसा नहीं करता और पर को नहीं सताता, वही अहिंसक है।⁴ अहिंसक की यह परिभाषा बड़ी व्यापक व मानवता से आपूर है। हिंसामय यज्ञों का विरोध कर दान-पुण्य कर्म को ही सबसे बड़ा यज्ञ उन्होंने बताया।⁵ अंगुत्तरनिकाय में यह कहा गया है कि व्यक्ति को तीन प्रकार की शुचिता प्राप्त करनी चाहिए।⁶

1. भावपाहुड, गाथा 143 की टीका
2. जहा कुम्भे सअंगाई सए देहे समाहरे ।
एवं पावांई मेहावी अज्झप्पेण समाहरे ।।
3. ये कंचि पाणभूतत्थि तसा वा थावरा वा अनवसेसा ।
दीना व ये महानता वा मज्झिमा रस्मकाणुकथूला ।।
दिट्ठा वा येव अदिट्ठा ये च दूरे वसन्ति अविदूरे ।
भूता वा संभवेसी वा सब्बे सत्ता भवन्ति सुखितत्ता ।। मेत्तसुत्त 4-5
4. अहिंसक सुत्त ।
5. चतुक्कनिपात, अंगुत्तर निकाय ।
6. तिकनिपात, अंगुत्तर निकाय ।

1. शरीर शुचिता—प्राणिहिंसा, चोरी, मिथ्याचार से विरति।
2. वाणी शुचिता—मृषावाद, पैशुन्य, कठोर वचन तथा व्यर्थ वचन से विरति।
3. मानसिक शुचिता— क्रोध, लोभ, मिथ्यादृष्टि, आलस्य, औद्धत्य, कौकृत्य, विचिकित्सा आदि से विरति।

संयमी व्यक्ति सदैव इस बात का प्रयत्न करता है कि दूसरे के प्रति वह ऐसा व्यवहार करे जो स्वयं को अनुकूल रहता हो।¹ तदर्थ इसे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावना का पोषक होना चाहिए। सभी सुखी और निरोग रहें, किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट न हो, ऐसा प्रयत्न करे।

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे निरामयः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्।

मा कार्षीत् कोऽपि पापनि मा च भूत कोऽपि दुःखितः।

सुच्यतां जगदप्येषा मतिमैत्री निगद्यते।²

विशिष्ट ज्ञानी और तपस्वियों के शम, धैर्य, गांभीर्य आदि गुणों में पक्षपात करना अर्थात् विनय, वन्दना, स्तुति आदि द्वारा आन्तरिक हर्ष व्यक्त करना प्रमोद भावना है।³ इस भावना का मूल साधन विनय है। जिस प्रकार मूल के बिना स्कन्ध, शाखायें, प्रशाखायें, पत्ते, पुष्प, फल आदि नहीं हो सकते उसी प्रकार विनय के बिना धर्म व प्रमोद भावना में स्थैर्य नहीं रह सकता।⁴ इसी प्रकार मज्झिमनिकाय में भी आर्य विनय का उपदेश दिया गया है।⁵

1. जं इच्छसि अप्पणत्तो जं च न इच्छति अप्पणत्तो।
तं इच्छ परस्स वि मा वा एत्तियगं जिणसासणयं।। वृहत्कल्पभाष्य
2. यशस्तिलकचम्पू, उत्तरार्ध।
3. अपास्तशेषाणां वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुरगेषु पक्षपातो यः सः प्रमोदः प्रकीर्तितः।। योगशास्त्र, 4.11.
4. एस धम्मस्स विणओं मूलं परमो से मुख्खो, दशवैकालिकण 3-7.
5. पोतलियसुत्त।

कारुण्य अहिंसा भावना का प्रधान केन्द्र है। उसके बिना अहिंसा जीवित नहीं रह सकती। समस्त प्राणियों पर अनुग्रह करना इसकी मूल भावना है। हेयोपादेय ज्ञान से शून्य दीन पुरुषों पर, विविध सांसारिक दुःखों से पीड़ित पुरुषों पर, स्वयं के जीवन-याचक जीव-जन्तुओं पर, अपराधियों पर, अनाथ, बाल, वृद्ध, सेवक आदि पर तथा दुःख-पीड़ित प्राणियों पर प्रतीकात्मक बुद्धि से उनके उद्धार की भावना ही कारुण्य भावना है। यह योगशास्त्र का कथन है। आर्यदेव ने समासतः अहिंसा को ही धर्म स्वीकार किया है।¹

माध्यस्थ्य भावना के पीछे तटस्थ बुद्धि निहित है। निःशंक होकर क्रूर कर्मकारियों पर, देव, धर्म, व गुरु के निन्दकों पर तथा आत्मप्रशंसकों पर उपेक्षा भाव रखने को माध्यस्थ्य भावना कहा गया है।²

इसी को समभाव भी कहा है। समभावी व्यक्ति निर्मोही, निरहंकारी, निष्परिग्रही, त्रस—स्थावर जीवों का संरक्षक तथा लाभ—अलाभ में, सुख—दुःख में, जीवन—मरण में, निदा—प्रशंसा में, मान—अपमान में विशुद्ध हृदयसे समद्रष्टा होता है। समभावी व्यक्ति ही मर्यादाओं व नियमों का प्रतिष्ठापक होता है। वही उसका समाचारिता है।³ बौद्ध दर्शन में मैत्री, करुणा, सुदिता और उपेक्षा इन चार भावनाओं को ब्रह्मबिहार कहा है।⁴ जैन दर्शन में वर्णित चार, भावनाओं और इन ब्रह्मबिहारों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।⁵

जैन दर्शन ने पाँच महाव्रतों को स्वीकारा है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मबिहार और अपरिग्रह। अन्य व्रतों का अन्तर्भाव इन्हीं पाँचों में किया जा सकता है। बौद्ध दर्शन में भी लगभग ऐसी ही व्रत स्वीकार किये गये हैं—प्राणतिपात वेरमण, अदिन्नादान वेरमण, कामेसु मिच्छाचार वेरमण, मुसावाद वेरमण, सुरामेरयमज्जप्पमादट्ठानादिवेरमण।

श्रमण—संस्कृति की निगण्ट (जैसे), सक्क (बौद्ध) तावस, गेरुय और आजीव—ये 5 प्रधान शाखायें मानी जाती हैं।⁶ इनमें से आज प्रथम दो शाखायें जीवित हैं। इन पाँच शाखाओं में जैनधर्म प्राचीनतम है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पालि साहित्य उपलब्ध श्रमण साहित्य में प्राचीनतम साहित्य है। अतः अहिंसा के प्राचीन उसमें धष्टव्य हैं।

1. धर्मः समासतोऽहिंसां वर्णयन्ति तथागतः, चतुःशतक, 298।
2. योगशास्त्र 4. 121, 3. दशवै. 5—13, मूला. 123, 4 मज्झिम 2—5—6।
3. दशवैकालिक 5. 13 5. मूलाचर, गाथा 123.
4. सुभ सुत्तन्त, मज्झिमनिकाय 2.5.6.
5. मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थीभावाः सत्त्वगुणाधिकविलश्यमान विनयेषु, तत्त्वार्थसूत्र, 7—11।
6. टाणांग, पृ0 949